P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-4*(Part-2) December- 2018
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में सामाजिक न्याय की संकल्पना का एक यथार्थ

लक्ष्मीना भारती
एसोसिएट प्रोफेसर,
राजनीति विज्ञान विभाग,
राजकीय महिला महाविद्यालय,
फतेहपुर, उ.प्र., भारत

सारांश

भारतीय लोकतंत्र की ऐतिहासिक यात्रा औपचारिक रूप से 1947 से शुरू होकर आज तक जारी है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्मित करते समय ही यह सुनिश्चित करने का प्रयत्न किया कि विविधता में एकता बनी रहे और एक समतामूलक न्यायप्रिय लोकतंत्र का निर्माण हो जिसमें सभी की भावनाओं का समुचित प्रतिनिधित्व हो। सामाजिक न्याय की अवधारणा एक लोक कल्याणकारी राज्य का आधारभूत तत्व है। यह समाज को निष्पक्ष रूप से व्यवस्थित करता है। सामाजिक न्याय (अर्थात् स्वतंत्रता, समानता एवं व्यक्तित्व की गरिमा) के अंतर्गत जब समानता की बात करते हैं तो प्रश्न उठता है कि समानता किस बात में, क्या व्यक्ति के रूप में समानता अथवा उसके पास क्या है– उसकी मात्रा और गुण में समानता। इसी प्रकार एक भूखे और अभावग्रस्त व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता का कोई मायने नहीं। इसी प्रकार मौलिक अधिकार सामाजिक न्याय की प्राप्ति में आवश्यक है, किन्तु जो व्यक्ति जीवित रहने के लिए जूझ रहा है उसे स्वतंत्रता और समानता अथवा शोषण के विरूद्ध अधिकारों से क्या लाभ। अतः सामाजिक न्याय और मौलिक अधिकारों के मध्य सार्थक तादात्म्य तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक कि अस्तित्व की रक्षा सम्बन्धी न्यूनतम गुजारा का अधिकार व्यक्ति के मौलिक अधिकार में सम्मिलित नहीं हो जाता। यद्यपि संविधान लागू होने के पश्चात अनेक सुधारवादी प्रावधान लागू किये गये हैं जिससे सामाजिक न्याय की परिकल्पना को व्यवहार में चरितार्थ किया जा सके। अपेक्षित है कि उन समस्त प्रावधानों को प्रभावी बनाया जाए।

मुख्य शब्द : समतामूलक न्यायप्रिय लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, मौलिक अधिकार, परम्परागत मूल्य, राजनीतिक प्रक्रिया, परम्परागत सामाजिक ढांचा।

प्रस्तावना

''लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं वरन् जीवनयापन की एक रीति भी है। लोकतंत्र समान अधिकार तथा समान स्वतंत्रता के सिद्धान्तों पर आधारित होता है। ये सिद्धान्त किसी जाति विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के लिए नहीं वरन् सभी के लिए होते हैं।'' – राधाकृष्णन।

लोकतंत्र का इतिहास अत्यंत पुराना है जो एथेंस व स्पार्टा युग से ही सतत् विकास की यात्रा पर है। इस विकास यात्रा में लोकतंत्र के दायरे एवं प्रकार में नित नये आयाम जुड़ते गये और आज भी यह यात्रा जारी है। लोकतंत्र की यह अवधारणा ग्रीन नगर–राज्य के दायरे से बाहर निकलकर वैश्विक स्तर पर शासन की सर्वमान्य प्रचलित पद्धति के रूप में स्थापित हो चुकी है। लोकतंत्र की प्रासंगिकता एवं उपादेयता इस बात से सिद्ध होती है कि तानाशाही एवं साम्यवादी व्यवस्था के समर्थकों ने भी अपनी शासन व्यवस्था को वैधता प्रदान करने हेतु 'Basic Democracy' 'People Democracy' जैसे शब्दों का सृजन किया। इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त करने के उपरांत भी यह व्यवस्था दोषमुक्त नहीं है। इसी कारण भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने इसे शासन की उपलब्ध सभी 'खराब व्यवस्थाओं' में 'सर्वोत्तम' की संज्ञा से विभूषित किया।

जहाँ तक भारतीय लोकतांत्रिक ऐतिहासिक यात्रा का प्रश्न है औपचारिक रूप से इसका श्रीगणेश 1947 में भारत की स्वतंत्रता से शुरू होता है जब भारत ने ब्रिटिश शासन–व्यवस्था का अनुगमन करते हुए 'वेस्ट मिनिस्टर पद्धति' को अपनी शासन व्यवस्था का मूल आधार माना। भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान निर्मित करते समय ही यह सुनिश्चित करने का प्रयत्न किया कि विविधता में एकता बनी रहे। प्रारम्भ से ही संविधान निर्माताओं ने यह प्रयास किया कि भारत में एक समतामूलक न्यायप्रिय लोकतंत्र का निर्माण हो

जिसमें सभी की भावनाओं का समुचित प्रतिनिधित्व हो। लार्ड कर्जन ने कभी भारतवासियों को चिन्तित होकर सलाह दी थी, कि उन्हें राजनीति के दायरे में अपनी मुक्ति नहीं तलाशनी चाहिए। कर्जन के इस मूल्यांकन को ऐतिहासिक रूप से ठुकराते हुए भारतवासियों ने राजनीति को ही अपनी आस्थाओं का केन्द्र बना लिया क्योंकि भारत में लोकतंत्र आमजन की चेतना का आंतरिक हिस्सा बन गया। लोगों ने समाज की लोकतांत्रिक व्यवस्था पर मुहर लगा दी। यद्यपि इस व्यवस्था ने लोगों की सारी समस्याओं को हल न कर पाया हो तथापि इस लोकतंत्र ने उन्हें अपने सम्मान, अधिकार और जायज हकों के लिए लड़ने की गुंजाइश अवश्य दी है।

मत देने के अधिकार ने तो ऊँच–नींच, अमीर–गरीब की परिपाटी को ही समाप्त कर दिया। इस अधिकार शक्ति ने उसे ताकत का वह अहसास कराया जो सामाजिक जीवन में उसे पहले कभी नहीं हुआ था। वास्तव में सामाजिक न्याय की अवधारणा एक लोक कल्याणकारी राज्य का आधारभूत तत्व है। यह समाज को निष्पक्ष रूप से व्यवस्थित करता है जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी संस्थाओं से प्रकट होता है। राज्य अपने नागरिकों को सामाजिक न्याय प्रदत्त कराने एवं मानवाधिकारों की सुरक्षा में समर्थ हो। राज्य की वह समर्थता व्यवस्थापिका अथवा अन्य किसी संस्था द्वारा अपने नागरिकों के जीवनयापन के उचित साधनों की रक्षा करने के सम्बन्ध में समुदाय की सामग्री स्रोतों का निष्ठापूर्वक एवं उचित वितरण करने से सम्बद्ध है। इसके लिए राज्य का यह दायित्व है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को वैधानिक एवं सार्वजनिक अवसरों की समानता, स्वास्थ्य और श्रमशक्ति का दुरुपयोग न होने देना, बालकों, महिलाओं और युवाओं के उत्पीड़न को रोकना और सर्वाधिक व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करें।

सामाजिक न्याय शब्द दो विशेषणों से मिलकर बना है, सामाजिक और न्याय। सामाजिक शब्द का सामान्य अर्थ समाज व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली स्थितियों के अर्थ में किया जाता है जिसकी परिधि में राजनीतिक, आर्थिक या अन्य किसी प्रकार के मानवीय सम्बन्ध सभी कुछ आ जाता है। दूसरा शब्द है 'न्याय' जिसका प्रयोग एक से अधिक अर्थों में किया जाता है। किन्तु यहाँ इसका तात्पर्य राज्य द्वारा स्थापित न्यायालयों और उन माध्यमों से है जिनके निर्णय राज्य की शक्ति से कार्यान्वित और वाद के पक्षों पर लागू किये जा सके। न्याय का रूप समय–समय पर बदलता रहता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि न्याय जो पूर्ण या आंशिक रूप से समाज व्यवस्था या उसकी उपव्यवस्थाओं को व्यवस्थित रखने के लिए किया जाता है, सामाजिक न्याय है।

सामाजिक न्याय (अर्थात् स्वतंत्रता, समानता एवं व्यक्तित्व की गरिमा) के अंतर्गत जब हम समानता की बात करते हैं तो प्रश्न उठता है कि समानता किस बात में, क्या व्यक्ति के रूप में समानता अथवा उसके पास क्या है– उसकी मात्रा और गुण में समानता। इसी प्रकार व्यक्ति के सम्मान की गणना भी उसके जीवन अस्तित्व तथा विकास के स्तर के आधार पर की जाती है। एक भूखे और अभावग्रस्त व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वह अपने अस्तित्व के लिए दूसरों की दया पर निर्भर है। इसी प्रकार मौलिक अधिकार सामाजिक न्याय की प्राप्ति में आवश्यक है, किन्तु जो व्यक्ति जीवित रहने के लिए जूझ रहा हो, उसे स्वतंत्रता और समानता अथवा शोषण के विरूद्ध अधिकारों से क्या लाभ। अतः सामाजिक न्याय और मौलिक अधिकारों के मध्य सार्थक तादात्म्य तब तक स्थापित नहीं हो सकते, जब तक कि अस्तित्व की रक्षा सम्बंधी न्यूनतम गुजारा का अधिकार अथवा कार्य का अधिकार एवं विकास के अवसर अथवा न्यूनतम जीवन स्तर की प्रत्याभूति सम्बंधी अधिकार व्यक्ति के मौलिक अधिकार में सम्मिलित नहीं हो। यद्यपि संविधान में एवं संविधान लागू होने के पश्चात् अनेक सुधारवादी प्रावधान लागू किये गये हैं। अपेक्षित है कि उन समस्त प्रावधानों को प्रभावी बनाया जाय।

संविधान की अन्तर्निहित भावना जातिविहीन समाज की स्थापना है। इस परिप्रेक्ष्य में संविधान के अनु0 14, 15(1), एवं (2), 10(1), 25(2) तथा 325 उल्लेखनीय हैं। जबकि समाज में उसकी स्वीकार्यता बनी हुई है। साझा संस्कृति, साझा इतिहास किन्तु विरोधभासों के मध्य जन्मे स्वातंत्रयोत्तर भारत को सम्बल प्रदान किया भारतीय संविधान ने। यद्यपि संशय की दृष्टि उस पर भी रही, जब संविधान सभा ने बहसों के समापन के अवसर पर डॉ0 अम्बेडकर ने कहा– ''26 जनवरी, 1950 को हम अंतर्विरोधों की दुनिया में कदम रखने जा रहे हैं। राजनीति में हम समान होंगे, किन्तु सामाजिक और आर्थिक जीवन में ऊँच–नीच बना रहेगा। बाल–विवाह, दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों को समाप्त करने हेतु प्रावधान बनाये गये हैं जबकि समाज में यह प्रचलित धारणाएं हैं। चूँकि समाज परम्परागत मूल्यों के सापेक्ष चलता है, विधान से इसमें मूलभूत परिवर्तन की बात सोचना बेमानी होगी, यह परिवर्तन समय–सापेक्ष ही होगा।

सामयिक चुनाव ने सरकार को लोगों के प्रति उत्तरदायी बनाया है, साथ ही समाज के सभी वर्गों में एक नवीन जागृति आयी है। इस सन्दर्भ में जैम्स मैनेर ने लिखा है कि पिछले पच्चीस–तीस वर्षों में दो धाराओं ने भारत की राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित किया है– जागृति और स्खलन। जागृति से समाज के लगभग सभी सामाजिक वर्गों गरीब–अमीर, सम्पन्न–विपन्न में खुली, मुक्त प्रतिनिधियात्मक राजनीतिक समझ का निरन्तर विकास होता रहा है। इसके साथ ही साथ यह चेतना बढ़ी है कि राजनीतिज्ञों को किये गये वायदों का पालन करना चाहिए। संसाधनों के लिए बढ़ती भूख और आग्रह जन्म लेते रहे हैं। गरीब मतदाता अब इस बात की स्वीकृति नहीं देते हैं कि भूमिपति बतायें कि उन्हें वोट कैसे और किसे डालना चाहिए। इसने लोकतंत्र को और सशक्त बनाया है।

अध्ययन की आवश्यकता

उपर्युक्त विषयक अध्ययन अति आवश्यक एवं सामयिक है। अध्ययन से हमें इस बात की जानकारी होती है कि भारतीय संविधान द्वारा एक समतामूलक न्यायप्रिय समाज की स्थापना हेतु क्या–क्या कानूनी प्रावधान किये गये हैं और क्या भारतीय लोकतंत्र अपने मंसूबों में कामयाब हो पाया, यदि हाँ तो कितना? क्या हम एक ऐसा

भारत निर्मित कर पाये हैं जो सभी जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र समूह की अपेक्षाओं पर खरा उतरा है? या फिर भारतीय लाकतंत्र केवल कुछ वर्गों की आकांक्षाओं को पूरा करन का साधन बन गया है? इन्हीं तमाम प्रश्नों का उत्तर तलाशने हेतु इस विषय का अध्ययन अति आवश्यक प्रतीत होता है।

अध्ययन का उद्देश्य

भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान के माध्यम से भारत में एक समतामूलक समाज जो तर्कसंगत न्याय पर आधारित हो, स्थापित करने का प्रयास किया, किन्तु भारत में आज भी वह न्यायपूर्ण समतामूलक समाज का सपना अधूरा सा है। आज भी इस सपने को पूरा करने में तमाम विसंगतियां एवं समस्याएं मुंह बाये खड़ी हैं जिन्हें दूर किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य भारत में सामाजिक न्याय की संकल्पना को पूरा करने हेतु मार्ग में आने वाली तमाम समस्याओं एवं विसंगतियों को दूर कर सार्थक समाधान प्रस्तुत करना है जिससे इस लक्ष्य को प्राप्त कर भारत विश्व पटल पर वास्तविक लोकतंत्र का एक अमिट उदाहरण बन सके।

शोध विधि

प्रस्तुत शोध पत्र में अध्ययन विषय का ऐतिहासिक, संवैधानिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है तथा समस्या के विवेचनोपरान्त उसका विश्लेषण एवं समीक्षा करते हुए निष्कर्ष दिया गया है।

निष्कर्ष

आजादी के बाद से ही भारतीय लोकतंत्र को और मजबूत और सशक्त बनाने के लिए एवं सामाजिक न्याय को यथार्थ मे प्रतिस्थापित करने हेतु निरतर प्रयोग होते रहें और आज भी जारी हैं जिसमें अभी भी परिणाम आशानुरूप नहीं मिले हैं और न ही समावेशी विकास का लक्ष्य पूरी तरह हासिल किया जा सकता है जिससे सामाजिक, आर्थिक न्याय की संकल्पना साकार रूप ले सके, फिर भी भारतीय लोकतंत्र में निरंतर स्थिरता स्थायी है जिसने भारत को विश्व पटल पर एक नयी उड़ान, एक नयी पहचान दी है। एक नवीन बहुलवादी राजनीतिक संस्कृति का जन्म हुआ है। यद्यपि परम्परागत सामाजिक ढ़ाँचा और इतिहास को ढ़ोने की प्रवृत्ति में हमने मनचाही उड़ान नहीं दी है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमारा लोकतांत्रिक ढ़ाँचा गड़बड़ है या संविधान में खामियाँ हैं। यह दर्शाता है कि कमी व्यवस्था के प्रभावी क्रियान्वयन एवं प्रतिबद्धता में है। जिसे स्पष्ट करते हुए पूर्व राष्ट्रपति डॉ0 के0 आर0 नारायनन ने कहा कि– ''संविधान को हमने विफल किया है। हमें यह सुनिश्चित करना चाहिए कि संविधान के पीछे का मूल दर्शन और संविधान का मूलभूत सामाजिक, आर्थिक आधार पवित्र और अलंघ्य बना रहे। हमें नहाने के पानी के साथ बच्चे को नहीं फेंक देना चाहिए' जिसमें शेक्सपियर के त्रासद पात्र ओथेलो की तरह इस रूप में पछताना पड़े कि दीन भारतीय की तरह मोती फेंक दिया जो उसके पूरे कबीले से मंहगा था। हमें इस पर चिन्ता नहीं अपितु स्वस्थ चिन्तन करना होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

सुनील खिलनानी– भारतनामा (द आइडिया ऑफ इण्डिया) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

जावीद आलम– लोकतंत्र के तलबगार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

बी0आर0 अम्बेडकर– संविधान सभा में भाषण (25 नवम्बर 1949 सी0ए0डी0 खण्ड, 12) नई दिल्ली, 1949

अक्षेन्द्र नाथ सारस्वत– सामाजिक न्याय, मानवाधिकार और पुलिस, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2002

डॉ0 रामगोपाल सिंह– सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2006

ए0एस0 नारंग– भारतीय शासन और राजनीति, नई दिल्ली, 2004

रजनी कोठारी– भारत में राजनीति कल और आज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005

डॉ0 के0आर0 नारायनन उधृत हस्तक्षेप, राष्ट्रीय सहारा, 19 फरवरी, 2000